International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 28-07-2023, Accepted: 13-08-2023, Published: 29-08-2023
Volume 9, Issue 4, 2023, Page No. 46-49

हिंदी आलोचना : आरंभिक चरण

भास्कर लाल कर्ण
असोसिएट प्रोफ़ेसर, मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश
हन्दी साहित्य के इतिहास में जो काल हलचल और कोलाहल, अंतर्विरोधों और अंतर्द्वंदों के रूप में जाना जाता है उस काल में हिन्दी आलोचना के आगमन को उनकी जटिलताओं के साथ इस शोध आलेख में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। भारतेन्दु युग में तत्कालीन रचनाकारों का विधाओं के स्वरूप के प्रति स्पष्टता नहीं थी लेकिन उनका मंतव्य स्पष्ट था। जिसमें परंपरा के प्रति आसक्ति के साथ नवीनता और राष्ट्रीयता का आग्रह भी था। इसी द्वंद्वात्मक परिवेश और द्वंद्वात्मक रचना–प्रक्रिया में आधुनिक विधा के रूप में हिन्दी आलोचना अंकुरित हो सबके सम्मुख आता है। इस शोध आलेख में हिन्दी आलोचना के आरंभिक चरण के इन विविध पक्षों को और साहित्य की दुनिया में इसके योगदान को पाठकों के सामने बाँधने की कोशिश की गई है।

मूल शब्दः आलोचना, निबंध, विधा, भारतेन्दुयुग, सिद्धांत, शास्त्र, परंपरा, पाश्चात्य, राष्ट्रीयता, नवजागरण, रीति, राजनीति, द्वंद्व, मध्यकालीनता, आधुनिकता, उन्नीसवीं सदी, रूढ़ि

आलोचना की शुरूआत भारतेन्दु से मानी जाती है तो बालकृष्ण भट्ट से और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' से भी। 'साधारणतः हिन्दी–विद्वानों की यह धारणा बनी हुई है कि प्रेमघनजी ही हिन्दी के सर्वप्रथम समालोचक हैं।'[1] इसके अलावा वैचारिक घालमेल भी है। जिसमें एक तरफ तो यह कहा जाता है कि, 'भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र आधुनिक युग के सर्वप्रथम आलोचक हैं।' दूसरी तरफ सोच समझ से मुक्त यह भी कहा जाता है कि 'आधुनिक हिन्दी आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दुयुग में पं. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने किया।'[2] भारतेन्दुयुग में आलोचना की शुरूआत किसने की उससे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है यह जानना कि आलोचना का आरंभिक और विकासात्मक स्वरूप क्या रहा?

आरंभिक काल में पत्र–पत्रिकाओं की सम्पादकीय टिप्पणियों, प्राप्ति स्वीकारों और यदाकदा सम्पादक के नाम पत्रों के ही रूप में आलोचना दिखाई पड़ती है। लेकिन धीरे–धीरे यह स्वरूप बदलता है। पुस्तक–परिचय वाली शैली ही समसामयिक पुस्तकों की विस्तृत आलोचनाओं के रूप में विकसित होती नज़र आती है। 'आनंद–कादम्बिनी' की 'संयोगिता–स्वयंवर' और 'बंग–विजेता' तथा 'हिन्दी प्रदीप' की 'सच्ची समालोचना' इसी शैली के प्रौढ़ उदाहरण हैं। इसमें पुस्तक परिचय का हल्कापन नहीं है। इनमें सत् साहित्य को प्रोत्साहन और असत् के बहिष्कार की सदिच्छा ही प्रधान है, इसलिए ये समीक्षाएँ गंभीर और विश्लेषणात्मक है।[3]

भारतेन्दु से पूर्व का समय रीतिकाल सैद्धांतिक निरूपण का समय था। भारतेन्दुयुग में भी इस निरूपण पद्धति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट आदि अपनी पत्रिकाओं में कभी–कभी नाटक, कविता आदि का सैद्धांतिक निरूपण भी करते थे। 'अथ रसरत्नाकर उत्तरार्द्ध' इसी तरह का आलोचनात्मक लेख है। उसमें लिखा गया कि ''नायिका के मुख्य ४ भेद हैं यथा १ मुख्य भेद २ जाति भेद ३ नायक प्रीति भेद ४ दिव्यादि भेद। यद्यपि स्वभाव भेद, रंग भेद, आचार भेद और प्रकृति भेद भी किसी ने लिखा है परन्तु उसको रस हानि की संभावना से त्याग ही करना चाहिए क्योंकि स्वभाव भेद में कर्कषा, रंग भेद में काली, आचार भेद में दुराचारिणी वैसे ही प्रकृति भेद में कफ वायु प्रकृति वर्णन रस को हानि करनेवाला और ग्रन्थ के आनंद को बिगारने वाला होगा।''[4] लेकिन सिद्धांत निरूपण का यह सिलसिला धीरे–धीरे बदलता है।

भारतेन्दुयुग के लेखकों के सामने पाश्चात्य आलोचना–साहित्य की प्रभूत सामग्री आई जिसके प्रभाव से वे वंचित न रह सके। उन्होंने आलोचना–साहित्य के इस रूप को अपनाकर प्राचीन गुण–दोष की पिटी–पिटाई लीक से कुछ मुक्ति पानी चाही। इसलिए ज़रूरी है कि उस काल की आलोचना की परीक्षा और उसके स्वरूप ज्ञान के लिए उसके चार प्रकार के आधारों को देखना चाहिए–

1. पश्चिम की आलोचना का प्रभाव
2. अपनी परम्परागत आलोचना का रूप
3. नवीन ज्ञान को अपनाने तथा राष्ट्रीय अभिमान की सुरक्षा के कारण दोनों का सामंजस्य
4. सामाजिक क्षेत्र में अपनी संस्कृति के आदर्शों के पुनरुत्थान की भावना [5]

राष्ट्र–प्रेम इस काल के साहित्य की प्रधान विशेषताओं में है। आलोचना में भी यही राष्ट्रभाव दिखाई पड़ता है। जुलाई–अगस्त सन् 1878 में 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में एक उपन्यास की आलोचना करते समय आलोचक ने हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या की दृष्टि से विचार किया है। वे दोनों जातियों के पारस्परिक मेल का समर्थन करते हैं। उन्होंने लिखा– ''महादोष यह है – मुसलमानों के चरित्र का ऐसा चित्र खींचना कि जिससे यह भान होने लगे कि संसार की मनुष्य जातिभर में सबसे नीच, दुष्ट, अत्याचारी, विश्वासघातक ये ही होते हैं.....हिन्दू–मुसलमानों का मेल कराना तो दूर रहा, इस प्रकार दिन दिन दोनों में परस्पर घृणा और द्वेष बढ़ाया जा रहा है।''[6] इस चेतना का मूल परिप्रेक्ष्य तत्कालीन परिवेश पर निर्भर करता था, जो राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों पर आधारित था। आलोचना ने साहित्यिक गुण–दोषों के निर्धारण का आधार इसे भी बनाया गया।

इनकी आलोचना में भी मूलतः गुण और दोष दिखाने की परिपाटी शास्त्रीय थी, लेकिन इनकी कसौटी नवीन थी। साहित्य शास्त्र के अध्ययन और अध्यापन की परम्परा से जुड़ाव पुरातनता का कारण बना। लेकिन नवीनता साहित्य के तत्कालीन परिस्थितियों के जुड़ाव से उत्पन्न हुई। परिपाटी भले शास्त्रीय हो लेकिन कसौटी आधुनिक थी। उदाहरण के लिए एक आलोचक ने लिखा– ''स्वदेश चित्त चमत्कारिणी और मनोहारिणी शोभा जो भारतवर्षीय

कवियों के सुकोमल हृदय को समधित विमोहित करेगी इसमें क्या संदेह?'' वही आलोचक एक संस्कृत कविता की व्याख्या करते हुए कहते हैं– ''प्रभात समय को मनमोहिनी स्वाभाविक शोभा से सुशोभित देखना ही इतने भाव इकट्ठे करने का प्रधान कारण है। वो एक मात्र स्वाभाविक शोभा ही इस रसीली कविता की उत्पत्ति का मूल है क्योंकि ये भाव भारतवर्ष के कवियों के लिए ही स्वाभाविक है और वैसे उदास–भूमि के कवियों के मस्तिष्क से ऐसे भावों का विनिर्गत होना ही सम्पूर्ण संभव है।''[7] काव्यात्मक शास्त्रीय सौन्दर्य मध्यकालीन पक्ष है, लेकिन अब उसे भारतवर्ष रूपी राष्ट्रीय अस्मिता से जोड़कर आलोचना को आधुनिक बनाया गया। काव्य या साहित्य का सौन्दर्यात्मक शास्त्रीय पक्ष मध्यकालीन है, लेकिन भारतेन्दुयुगीन रचनाकार भारतवर्ष रूपी राष्ट्रीय अस्मिता से जोड़कर आलोचना को न केवल आधुनिक बनाते हैं, बल्कि ऐतिहासिक उद्देश्य को भी पूरा करते हैं।

यदि आलोचना में अभिव्यक्ति का स्वरूप राष्ट्रीय होने लगा था, तो यह मानना अनुचित है कि वह केवल साहित्यिक विषयों पर निर्भर करता। केवल किसी के उपन्यास, कविता या नाटकों पर लिखी रचना को ही आलोचना कहा जाए तो यह आलोचनाओं को सीमित किया जाना कहा जा सकता है। राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, वैचारिक लेख भी आलोचना का रूप है। उसके अंतर्वस्तु की रूपरेखा गंभीरता और विवरणों की उपयोग पद्धति पर उसकी विशिष्टता तय होती है। उस दौर में जैसे कहानी और निबंध एक दूसरे से जुड़े हैं, उसी तरह निबंध और आलोचना में भी अटूट जुड़ाव है। आलोचना सिर्फ निंदा नहीं होती, न ही केवल साहित्यिक विवेचना होती है। वह साहित्य के अतिरिक्त सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक परिस्थितियों पर विवेचनात्मक हस्तक्षेप होता है, जो ठोस चिंतन पर आधारित होता है। निबंध माने जाने वाली रचनाओं में भी इसे बहुतायत रूप में देखा जा सकता है। तत्कालीन लेखक भले इसे निबंध ही कह ले, समकालीन चिंतन मतभेद रख सकता है।

भारतेन्दु का 'नाटक' लेख हो या बालकृष्ण भट्ट के 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' संबंधी विचार, दोनों को सामान्यतया निबंध माना जाता है। मैं इन लेखों को तयशुदा सीमाओं से परे मानता हूँ। कोई कारण नहीं है कि इन्हें निबंधों के अलावा आलोचना भी न माना जाए। आलोचना की बुनियाद है देखना और परखना। यह कार्य सिर्फ साहित्यिक कृति पर निर्भर माना जाए तो ठीक नहीं है। ''आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम्''[8] आलोचना के इस अर्थ स्वरूप को बताने वाले लेखक ही जब इसे सिर्फ साहित्य तक सीमित करते हुए लिखते हैं– ''आलोचना का उद्देश्य यही खोज निकालना है कि कवि या लेखकों की कल्पना में मनुष्य के हृदय के किस विशेष रूप ने घनीभूत होकर अपने अनन्त वैचित्र्य के प्रकाश को सौन्दर्य द्वारा प्रस्फुटित किया है।''[9] तो यह विचित्र और निष्क्रिय लगता है।

'साहित्य मनुष्य की मनुष्यता की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है. मनुष्य की मनुष्यता पूरी तरह प्रकट होती है उसकी स्वतंत्रता में – विचार, कल्पना और कर्म की स्वतंत्रता में। आलोचना इसी स्वतंत्रता का पालन–पोषण करती हुई, उसके संग साथ चलती हुई और उसके पक्ष में लड़ती हुई सामाजिक बनती है। मनुष्य की मनुष्यता ही जब उसकी आलोचनात्मक चेतना के रूप में विकसित होती है तब वह जानदार, असरदार और सामाजिक भी होती है।'[10] भारतेन्दुयुगीन आलोचना के विकास का यही स्वरूप है। इसे सिर्फ साहित्यिक स्वरूप से नहीं जोड़ा जा सकता। तत्कालीन वैचारिक लेखन, जिसे अक्सर निबंध ही कहा जाता है, वह आलोचना का प्रारंभिक स्वरूप था। इसी के माध्यम से मनुष्य, मनुष्यता, व्यक्ति, समाज और संघर्ष की समझ द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में विकसित होती है। और इसी रूप में क्रमशः आलोचनाओं का भी विकास होता है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य की मनुष्यता से साहित्य का संबंध है तो यह आधुनिक है, यदि केवल दरबारी मनोरंजनात्मक और धर्म शास्त्रानुमोदन के लिए साहित्य हैं तो यह मध्यकालीन है। भारतेन्दुयुगीन आलोचनात्मक लेखन में भी दोनों ही पद्धति द्वन्द्वात्मक स्वरूप में दिखती है।

आलोचना की मध्यकालीन पद्धति लेखन की कलात्मकता को उजागर करती है, जो शास्त्र के प्रभाव से जुड़ी है। आधुनिक पद्धति विषय संबद्ध गंभीरता और उद्देश्य से जुड़ी है, जो शास्त्र की तयशुदा जकड़नों में नहीं पड़ती है। मध्यकाल की नवनिर्मिती पुरातन की उपयोगिता है, आधुनिक विशिष्टता परिस्थिति व भविष्य दृष्टिमूलक सृजन है जो तय विधानों में ही हो ज़रूरी नहीं है। आलोचकों के लेखन का उद्देश्य जनकल्याण का हित होता है, तो साथ ही व्यक्तिगत मानस की अभिव्यक्ति भी। इस दौर की आलोचना में प्रभावशीलता की पारंपरिक दृष्टि होती है तो व्यक्तिगत मानसिकता का आधार भी। उदाहरणस्परूप 'सारसुधानिधि' के सम्पादकीय में लिखा गया– ''प्रभात समय कमलिनी को प्रभात समीरणोत्थित तरंग माला के आघात से विकंपित और कुमुद्वती के पराग से धूसरित कलेवर मधुकर को घड़ी–घड़ी उपदेशन से स्खलित होते देख कवि ने कल्पना की है कि नायिका पद्मिनी मान कर बैठी है, कारण उसने अपने प्यारे पति मधुप में कुमुदिनी के संसर्ग का चिह्न देख लिया है।''[11] यह परम्परागत दृष्टि है. दूसरी ओर 'प्रेमघन'जी ने 'बंग विजेता' उपन्यास पर लिखते हुए सुखान्त के आग्रह से उपन्यास के अंतिम परिच्छेद में विमला की मृत्यु नापसंद की है। लिखा है– ''यह अंतिम परिच्छेद है। इसमें ग्रंथ और कथा समाप्त होती है, इसमें हम विमला की मृत्यु का वर्णन अत्यंत नापसंद करते हैं, हर्षप्रद सरला के विवाह के संग विमला की मृत्यु वैसी ही बोध होती है जैसे मिश्री मिश्रित सुमधुर दुग्ध के प्याले में नींबू निचोड़ा जाय।''[12] यह व्यक्तिगत रूचि है। ऐसी रूचि भी व्यक्तिगत मानसिकता और सामाजिक वास्तविकता की द्वन्द्वात्मकता से पैदा होती है। संवेदनात्मक स्वरूप इसी से तय होता है। भारतेन्दुयुग आलोचना की इस पद्धति का प्रारंभिक युग है।

आलोचना का एक भिन्न स्वरूप बालकृष्ण भट्ट में दिखता है। उनकी आलोचना प्रशंसा और निंदा की चरम अभिव्यक्ति है। वे निंदनीय पर तर्क संगत और 'सच्ची आलोचना' श्रीनिवास दास रचित 'संयोगिता स्वयंवर' की करते हैं। इसी तरह स्तुत्य पर वैचारिक प्रशंसा श्रीधर पाठक द्वारा अनूदित 'हरमिट' अर्थात् 'एकान्तवासी–योगी' की करते हैं। इसकी प्रशंसा में स्वदेशाभिमान का आधार है जो स्पष्ट दिखता है। लेकिन 'संयोगिता स्वयंवर' की स्थिति भिन्न थी। स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा जानते हुए रचना में अभिव्यक्ति का जो स्वर देखते हैं, उस पर लिखते हैं कि, ''मैं आपकी कंठाभरण हूँ–मैं आपकी प्रेयसी और प्राणवल्लभा हूँ– इत्यादि–2 इस तरह के वचन तो कृत्रिम प्रीतिवाली महाव्यभिचारिणी के मुख से भी न निकलेंगे–कदाचित् आप फुटनोट देकर यह लिखना भूल गए हैं कि यह वचन नटी की निपट निर्लज्जता प्रगट करने को लिखा गया है।''[13]

आजकल की कुछ आलोचना इस बात पर भी निर्भर करती है कि वह रचनाकार से किस तरह का व्यक्तिगत संबंध रखते हैं। उसी पर निर्भर करता है कि आलोचना प्रशंसात्मक होगी या निंदात्मक। संभव है कि बालकृष्ण भट्ट भी इसी हालत में हों। लेकिन उनके आलोचना की जो तार्किक अभिव्यक्ति है वह विशिष्ट ही नहीं आकर्षक भी है। वह आलोचना पद्धति के विकास के लिए मार्गदर्शक भी है। ये वही लेखक हैं जिनके तथाकथित निबंध 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' श्रेष्ठतम आलोचना की आधारशीला है। इसमें उन्होंने साहित्य, जीवन, संस्कृति और राष्ट्र कैसे एक दूसरे से जुड़े रहते हैं, इसे स्पष्टतया बताया है।

आलोचना का सूत्रपात भले 'प्रेमघन'जी द्वारा माना जाए, पर उनकी प्रारंभिक आलोचना प्रणाली में परम्परायुक्त मध्यकालीन रूढ़िवादिता ही अधिक है। कालान्तर में द्वन्द्वात्मक परिणति विकसित होती है। ''प्रेमघनजी ने साहित्यिक पुस्तकों पर

समालोचनाएँ लिखी हैं, किन्तु एक कुशल सम्पादक और युग धर्मी विचारक के रूप में भी उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्यान्य समसामयिक परिस्थितियों का विवेचन अपनी आलोचनाओं के अंतर्गत किया है।''[14] 'प्रेमघन' ने 'संयोगिता–स्वयंवर' पर लिखी अपनी आलोचना के आरंभ में लिखा है कि, ''जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद और चापलूसी का कोई दरजा पाते हैं, शेष छोड़ते नहीं दिखाते। इसे यदि खुशामद न मानी जाए तो यह अनुमान हो कि वे न केवल नाटक विधा और पुराने कवियों के काव्य ही से अनभिज्ञ हैं, किन्तु कदाचित् भाषा वा हिन्दी को भी भली भाँति नहीं जानते।''[15] तय है कि आलोचना में समृद्ध ज्ञान की आवश्यकता है, संबंधों की स्वार्थपरक सीमा नहीं। इसकी समझ 'प्रेमघन' में थी। लेकिन उनके इस कथन से स्पष्ट है कि भारतेन्दुयुग में आलोचना लेखन के क्रम में अज्ञानता और खुशामदी प्रवृत्ति अधिक सजग थी।

'प्रेमघन'जी ने 'संयोगिता स्वयंवर' पर अपनी आलोचना में अद्भुत टिप्पणी की– ''यदि यह संयोगिता स्वयंवर पर नाटक लिखा गया, तो इसमें कोई दृश्य स्वयंवर का न रखना मानों इस कविता का नाश कर डालना है.....न ऐतबार हो तो रघुवंश, अनेक रामायण, सीता स्वयंवर आदि में देख लीजिए।''[16] परम्परा और व्यक्तिगत सोच एक साथ जोड़ देते हैं। बेशक अगर कृति बेहतर होती तो भट्टजी और 'प्रेमघन'जी एक साथ विरोधी ही नहीं होते।

'प्रेमघन' ने कजली की व्याख्या भी आलोचनात्मक तरीके से की। कजली पर लिखा हुआ उनका लेख व्याख्यात्मक ही नहीं, समीक्षात्मक भी है। उन्होंने लिखा– ''इसमें संदेह नहीं कि कजली एक ग्राम्य गीत है, इसी से उसकी गाथा, उसका भाव, विषय और प्रबंध अवश्य ही ग्राम्य होना ही है, किन्तु कदाचित् निपट नीरस, भोंडे अथवा अश्लिल कदापि नहीं। असली कजलियों में जो कभी कभी कुछ बेढ़ंगे पद आ भी जाते, तो वह किसी ऐसे आवश्यक स्थान पर आते, जो एक प्रकार का अपूर्व आनन्द लाते वा मजे को बढ़ाते हैं।''[17]

भारतेन्दुयुगीन आलोचना पहली बार इतिहास–बोध में भी प्रवेश कर चुकी थी। भारतेन्दु का 'नाटक' संबंधी लेख इसका प्रचलित उदाहरण है। प्राचीन नाट्य पद्धति का पूरा विवरण देकर भारतेन्दु आखिरकार नवीन नाटकों की रचनात्मक पद्धति को बताते हैं। यह पद्धति नवनिर्मिती है, परम्परा का अस्वीकार नहीं। उन्होंने लिखा– ''प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक अंक में अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में नाटक के खलों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है।''[18] इसे अक्सर निबंध कहा जाता है। उन्नीसवीं सदी की आलोचना का जो स्वरूप था वह नवनिर्मित आरंभिक स्वरूप था। इसी तरह के कई तथाकथित निबंध ऐसे हैं जिन्हें आलोचना या आलोचनात्मक निबंध कहा जा सकता है।

भट्टजी की आलोचना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। उसमें राजनीति, धर्मनीति, समाज सुधार, राष्ट्रभक्ति, स्वातंत्र्य प्रेम आदि विभिन्न विषयों का समावेश था। साहित्यिक आलोचना तो केवल उसका अंग मात्र था। भट्टजी के काव्यों के प्रति लगाव की स्थिति अलग थी, विचारों की स्थिति अलग। भारतेन्दु की भाँति उन्हें भी सूर, तुलसी, बिहारी, भूषण और मतिराम आदि कवियों की रचनाएँ अत्यंत मोहिनी लगी। लेकिन अपनी वैचारिक अभिव्यक्ति में यह कहना नहीं भूले कि, ''हिन्दी कवि भी उन्हीं पुराने कवियों की शैली का अनुकरण कर आजतक चले आए हैं और उसी ढंग को छोड़ कोई दूसरे प्रकार की भी कविता हो सकती है, यह बात उनके मन में धँसती ही नहीं। जिसकी उपमा हम एक छोटे–से तालाब की देंगे जिसमें न कहीं से पानी का विकास है न नया ताजा पानी उसमें आने की आशा है। तब इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उसका पानी दिन–दिन सड़ता ही जाए।''[19] यह कथन सिर्फ ब्रजभाषा व खड़ीबोली के संदर्भ में नहीं है, यह कविता के विषय और उसकी आवश्यक छवियों से भी जुड़ा है। साहित्य के प्रति यह दृष्टि अत्यंत आधुनिक है। यह द्वन्द्वात्मक विकास का प्रगतिशील रूप है।

एक बार भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 'खुशी' पर एक लेख लिखा, और उसमें उन्होंने खुशी के भौतिक पक्ष पर प्रकाश डाला और लौकिक खुशी को उचित महत्ता प्रदान की। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने भारतेन्दु की दी हुई खुशी की परिभाषा की कटु आलोचना की, और 'खुशी' को अपनी आध्यात्मवादी परिभाषा दी। भट्टजी ने राजा शिवप्रसाद के आक्षेप, खण्डन और आलोचना का अपने एक लेख में बड़ा ही तर्क संगत उत्तर दिया, जो उनकी आलोचना संबंधी मूलभूत मान्यताओं पर उचित प्रकाश डालता है– ''१८ जून की काशी पत्रिका में राजा शिवप्रसाद का 'खुशी' पर एक लेक्चर छपा है, जिसमें उक्त राजा साहब ने खुश गुफ्तारी और गोपाई की खूब ही टाँग तोड़ी है। पहले इन्होंने बाबू हरिश्चंद्र के 'खुशी' के डेफिनेशन का खण्डन किया है फिर अपनी निज की निराली तान गा चले हैं जिसमें अंत को वेदान्तियों के पुराने सिद्धांत पर आरूढ़ हो सच्ची खुशी को कुटी जंगल गुफा, पहाड़ में ढूँढना सिद्ध किया है। हमें कैसे निश्चय हो कि राजा साहब ने जाहिरदार और अपने मतलब के पूरे दोस्त, बुढ़ापे में इस सिद्धांत पर जी से आरूढ़ हुए हैं.....सच्ची खुशी स्वदेशानुरागी की है। जिसमें अपने मुल्क या मुल्क की बहबूदी के लिए सच्ची कोई एक कतरा खून का बहाया या अपने निज के फायदे से बरतरफ हो सर्व साधारण के हित या बेहतरी के लिए यावज्जीवन यत्न करता रहा बल्कि इसी धन में जान माल सबसे हाथ धो बैठा उसी को सच्ची खुशी हासिल है, न कि राजा साहब सा खुशामदी जो अपने स्वार्थ के लिए बस चले तो देश भर को उलट दे।''[20] इनके यहाँ व्यक्तिगत नहीं बल्कि राष्ट्र हितैषी चिंतन ही आलोचना का केन्द्र बनता है, और यही राष्ट्रभाव उसकी कसौटी है।

भारतेन्दुयुगीन आलोचना का सर्वाधिक प्रभावशाली लेख बालकृष्ण भट्ट का 'बोध, मनोयोग और युक्ति' है। जिसमें मानवीय यथार्थ को वैज्ञानिक तर्कों व कसौटियों पर परखते हुए लिखा है। धर्म और परम्परा की आस्थाओं को दरकिनार कर विचार, तर्क, वास्तविकता, वैज्ञानिकता को विश्लेषण का केन्द्र बनाते हैं। उन्होंने आरंभ में ही लिखा – ''किसी वस्तु के देखने सुनने छूने चखने व सूँघने से जो एक प्रकार का ज्ञान होता है उसे बोध (फिलिंग और संसेशन) कहते हैं; परन्तु यथार्थ में केवल बोध से ज्ञान नहीं होता; प्रकृत्त ज्ञान (परसेप्शन) बोध और साधारण ज्ञान दोनों मिलके होता है और वह प्रकृत्त ज्ञान बोध तुम्हें कितना ही हो बिना मनोयोग के नहीं होता; अतएव केवल बोध में मन अस्थिर रहता है और ज्ञान जो मनोयोग के द्वारा होता है उसमें स्थिर रहता है।'' इसका उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया – ''जैसे घड़ी तो आठो पहर बजा करता है उसे कभी हम सुनते हैं कभी नहीं सुनते। पास धरी हुई घड़ी का शब्द सुनने का कारण यही अमनोयोग है जिसके बजने का बोध तो सभी अवस्था में हुआ करता है पर उसके शब्द का ज्ञान अर्थात् घड़ी में कै बजा इसका ज्ञान हमें तभी होता है जब हम तंत्रावधान हो मन का संयोग उसके बजने में करते हैं।''[21] यह लेख भौतिकवादी वैज्ञानिक चिंतन की अभिव्यक्ति है।

किसी भी लेख की आलोचना आलोचक के विचारों पर निर्भर करती है, और वैचारिक स्वरूप का संबंध संवेदनाओं से जुड़ा होता है। चूँकि संवेदनाओं का स्वरूप परिस्थितियों से निरपेक्ष नहीं होता, इसीलिए साहित्य की हर विधा तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेशों पर निर्भर थी। यह भी ध्यान रखने की ज़रूरत है कि एक ही परिस्थिति सभी तरह की व्यक्ति की संवेदनाओं को पूर्णतः समान रूप से प्रभावित नहीं

करती, क्योंकि प्रभाव गति और परिवर्तन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में निर्भर करता है। इसीलिए ज़रूरी है कि साहित्य को तयशुदा वैचारिक परिप्रेक्ष्य में आकलन न कर, द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को विश्लेषित करना चाहिए। भारतेन्दुयुगीन साहित्य का वैचारिक और संवेदनात्मक पक्ष ही नहीं, कलात्मक स्वरूप भी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया पर निर्भर था। इसीलिए उस युग की साहित्य की कलात्मक वैविध्यता का विश्लेषण ज़रूरी है। भारतेन्दुयुगीन साहित्य में जिस तरह शैलीगत वैविध्य है और यह वैविध्य बहुत स्पष्ट नहीं है, उसी तरह संवेदनात्मक ढाँचे में भी वह परस्पर कभी आगे–पीछे, कभी समानांतर चलने वाली मानसिकताओं अर्थात् मध्यकालीनता और आधुनिकता की टकराहट दिखाई देती है। यह तत्युगीन रचनाकारों की कमज़ोरी नहीं, बल्कि उनके अपने समय का दबाव है। वे जिस समाज और जाति के लिए लिख रहे थे, रचना कर रहे थे, वह उनकी तुलना में शैक्षिक रूप से अत्यंत पिछड़ा था। इसलिए उनके संस्कारों से होते हुए भी उनकी मान्यताओं से टकराया जा सकता था। निबंध और आलोचना को तो साहित्यकारों की विशेष संपत्ति कहा जा सकता है, पर कविता, कहानी, नाटक, सभा–समिति, व्याख्यान और पत्रकारिता का सीधा संबंध जनता से था। इसलिए भारतेन्दुयुग में कला–प्रयोगों में पारम्परिक और नवीन रूप–विधानों की द्वन्द्वात्मक गत्यात्मकता से साहित्य और समाज को नया कलेवर मिलता है।

संदर्भ सूचि

1. भगवत्स्वरूप मिश्र, हिन्दी आलोचनाः उद्‌भव और विकास, साहित्य सदन, देहरादून, सं०–1972, पृ० 240.
2. पशुपतिनाथ उपाध्याय, हिन्दी आलोचनाः विकास एवं प्रवृत्तियाँ, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, सं०–1998, पृ० 21–22.
3. भगवत्स्वरूप मिश्र, हिन्दी आलोचनाः उद्‌भव और विकास, पृ० 232.
4. हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, मार्च 14, 1875, पृ० 154.
5. रामदरश मिश्र, हिन्दी आलोचनाः प्रवृत्तियाँ और आधार भूमि, नोर्थ इंडिया पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्युटर्स,:दिल्ली, सं०–2002, पृ० 18–19.
6. हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, जुलाई–अगस्त, 1878, पृ० 19.
7. सार–सुधानिधि, अंक–6, सन् 1879.
8. हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, सं०– सम्वत् 2020, पृ० 120.
9. वही, पृ० 121.
10. मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं०– 2005, पृ० 5.
11. सार–सुधानिधि, अंक–6, सन् 1879.
12. वही.
13. हिन्दी–प्रदीप, 1 अप्रैल, सन् 1886.
14. वैंकट शर्मा, आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, सं०– 1962, पृ० 161.
15. प्रेमघन–सर्वस्व, भाग–2, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सम्वत् 2007, पृ० 423.
16. वही, पृ० 424.
17. वही, पृ० 355.
18. भारतेन्दु समग्र, प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, वाराणसी, सं०–2000, पृ० 558.
19. हिन्दी–प्रदीप, मार्च, सन् 1880.
20. डा. राजेन्द्र शर्मा, समालोचक, सम्पा. रामविलास शर्मा, आगरा, मार्च 1958, अंक–2, पृ० 16–17.
21. बालकृष्ण भट्टः प्रतिनिधि संकलन, नैशनल बुक ट्रस्ट, सं०–1996, पृ० 112.